

April 2019

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग) अप्रैल २०१९



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अप्रैल २०१९

विषय-सूची

अतिमानसिक योग	श्रीअरविन्द	३
एक बालक को पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से	६
पश्चिम के लोग तथा भारतीय योग	श्रीअरविन्द	१४
अपने मन को कभी मूल्यांकन न करने दो	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४ से	१९
भगवान् पर भरोसा रखो	श्रीअरविन्द	२०
२६ अगस्त १९६७ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी' खण्ड ११ से	२१
श्रीअरविन्द के उत्तर (७२)	श्रीअरविन्द	२४

अतिमानसिक योग

अतिमानसिक योग एक ही साथ भगवान् की ओर अन्तरात्मा का आरोहण और परम देव का शरीरस्थ प्रकृति में अवरोहण है। आरोहण आत्मा, मन, प्राण और शरीर की 'एक-केन्द्रित सर्व-सञ्चित ऊपर की ओर उठती हुई' अभीप्सा की माँग करता है और अवरोहण समस्त सत्ता की अनन्त और शाश्वत भगवान् की ओर पुकार को बुलाता है। अगर यह पुकार और यह अभीप्सा हों और अगर वे हमेशा बढ़ती रहें और समस्त प्रकृति पर अधिकार कर लें तभी और केवल तभी अतिमानसिक रूपान्तर सम्भव हो सकता है।

समस्त सत्ता का एक महत्तर दिव्य चेतना को ग्रहण करने और उसमें प्रवेश करने के लिए—जो पहले ही से ऊपर और पीछे विद्यमान है और इस मर्त्य अर्ध-सचेतन जीवन को चारों ओर से घेरे हुए है—उसमें उद्घाटन और उसके प्रति समर्पण ज़रूरी है। और साथ ही दिव्य शक्ति की अधिकाधिक बलवान् और आग्रही क्रिया को सहने की बढ़ती हुई क्षमता होनी चाहिये, यहाँ तक कि आत्मा अनन्त माँ के हाथों में एक बालक बन जाये। इस योग में भी अन्य सभी योगों की जानी हुई सभी प्रक्रियाओं का समय-समय पर अवर पद्धतियों के रूप में प्रयोग होता है, लेकिन वे इन महत्तर परिस्थितियों के बिना असमर्थ होती हैं और एक बार ये हों तो फिर वे अनिवार्य नहीं रहतीं।

अन्त में यह पता चलेगा कि मन, प्राण और शरीर के किसी भी प्रयास द्वारा या किसी मानव मनोवैज्ञानिक या शारीरिक प्रक्रिया द्वारा यह योग सम्पादित नहीं किया जा सकता। इसे केवल परमा शक्ति की क्रिया ही पूरा कर सकती है। लेकिन उसका तरीका एक ही साथ बहुत गुह्य रूप से प्रत्यक्ष तथा बाहरी रूप से पेचीदा, इतना अधिक बड़ा, इतना सूक्ष्म है कि विस्तार के साथ उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता, और हमारी मानव बुद्धि उसे सूत्रों में काट-छाँट नहीं सकती।

मनुष्य स्वयं अपने प्रयास से अपने-आपको मनुष्य से बड़ा नहीं बना सकता, लेकिन वह अपने अन्दर कार्य करने के लिए भागवत सत्य और उसकी शक्ति का आह्वान कर सकता है। भागवत प्रकृति का अवरोहण ही मानव पात्र को दिव्य बना सकता है। इस योग का संकेत-शब्द ही है रूपान्तरकारी परमा शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण।

हम प्रकृति के जिस दिव्यीकरण की बात कर रहे हैं यह केवल एक प्रकार की अतिमानवता में वृद्धि नहीं, रूपान्तरण है, हमारी अज्ञानमयी प्रकृति के मिथ्यात्व से दिव्य-प्रकृति के सत्य में परिवर्तन है। मानसिक या प्राणिक अर्ध-देव, असुर, राक्षस, पिशाच, प्राणिक दैत्य, भूत अपनी पराकाष्ठा, शक्ति, क्रिया-कलाप और अपने विशेष स्वभाव के गठन में अतिमानव हैं परन्तु वे दिव्य नहीं हैं, परम भागवत नहीं हैं क्योंकि वे केवल महत्तर मानसिक शक्ति या प्राणिक शक्ति में निवास करते हैं, परम सत्य में नहीं और केवल परम सत्य ही दिव्य है। केवल वे ही जो

चरम सत्य-चेतना में निवास करते और उसे मूर्त रूप देते हैं, अन्दर से दिव्य बिम्ब में निर्मित या पुनर्निर्मित होते हैं।

अतिमानसिक योग का लक्ष्य है इस परम सत्य-चेतना में परिवर्तित होना, लेकिन यह सत्य मन से परे की चीज़ है और यह चेतना उच्चतम मानसिक चेतना से कहीं ऊपर है। क्योंकि मन का सत्य हमेशा सापेक्ष, अनिश्चित और आंशिक होता है जब कि यह महत्तर सत्य अनिवार्य, अलंघ्य और सम्पूर्ण होता है। मन का सत्य हमेशा अपर्याप्त निरूपण और बहुधा भ्रामक निरूपण होता है और जब बहुत अधिक ठीक हो फिर भी केवल एक बिम्ब, सत्य की छाया ही होता है, उसका शरीर नहीं। मन न तो सत्य में निवास करता है न उस पर अधिकार रखता है बल्कि केवल उसे खोजता है और अधिक-से-अधिक वह उसके लबादे के कुछ ताने पकड़ लेता है। अतिमानस सत्य में निवास करता है और उसका निजी द्रव्य रूप और अभिव्यक्ति है। उसे सत्य की खोज नहीं करनी होती, वह उसे सदा अपने-आप अपने अधिकार में रखता है और वह जिस पर अधिकार रखता है वही होता है। यही इनके भेद का मर्म है।

मन से अतिमन की ओर संक्रमण में जो परिवर्तन होता है वह केवल हमारे ज्ञान या ज्ञान की शक्ति में क्रान्ति नहीं है। पूर्ण और स्थायी होने के लिए उसे हमारी इच्छा-शक्ति, हमारे भावों, संवेदनों, समस्त प्राणिक शक्ति और उसकी सामर्थ्य और अन्ततः हमारे शरीर का तथा उसकी क्रियाओं का भी दिव्य रूपान्तरण करना चाहिये। उसके बाद ही कहा जा सकता है कि अतिमानस यहाँ धरती पर है, उसकी जड़ें पार्थिव तत्त्व में हैं और उसने दिव्य प्राणियों की एक नवीन जाति में मूर्त रूप लिया है।

अपने उच्चतम शिखर पर अतिमानस भागवत विज्ञान है—भगवान् की प्रज्ञा शक्ति, ज्योति और आनन्द जिसके द्वारा भगवान् विश्व को जानते, उसका पोषण, शासन और भोग करते हैं।
CWSA खण्ड १२, पृ. ३६४-६६

अतिमानसिक योग का प्रथम शब्द है समर्पण; इसका अन्तिम शब्द भी समर्पण है। दिव्य चेतना में उठाने के लिए, पूर्णता तथा रूपान्तरण के लिए स्वयं को भगवान् को अर्पित कर देने के संकल्प से ही योग आरम्भ होता है। और पूर्ण समर्पण द्वारा ही यह चरम बिन्दु पर पहुँचता है। और केवल तभी जब आत्म-समर्पण पूर्ण हो जाता है, योग की अन्तिम अवस्था आती है, वह अवस्था जिसमें अतिमानसिक भगवान् हमें पूर्ण रूप से अधिग्रहण कर लेते हैं, जो सत्ता की पूर्णता तथा प्रकृति के रूपान्तरण की अवस्था है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३६७

परम पुरुष से जो वरदान हमने माँगा है, वह वह वरदान है जो धरती 'उच्चतम' से माँग सकती है, यह वह वर है जिसे सिद्ध करना सबसे अधिक कठिन है, जो अपनी शर्तों में सबसे अधिक कठोर है। यह जड़-भौतिक में परम 'सत्य' तथा 'शक्ति' को उतारने तथा जड़-भौतिक स्तर पर, उसकी चेतना तथा पार्थिव जगत् में अतिमानस को प्रतिष्ठित करने से कम नहीं है।

और साथ ही यह ठीक जड़-भौतिक तत्त्व के मूल तक में पूर्ण रूपान्तर की क्रिया है। केवल परम 'कृपा' ही इस चमत्कार को सिद्ध कर सकती है।

परम 'शक्ति' सबसे अधिक जड़-भौतिक चेतना में उतर चुकी है, लेकिन वह भौतिक की घनता के परदे के पीछे छिपी खड़ी है और अपनी अभिव्यक्ति के पहले, यानी, उसका महान् कार्य शुरू हो उसके पहले, यह माँग कर रही है कि परम 'कृपा' को उतरने की शर्तें पूरी की जायें ताकि वह कृपा वास्तविक तथा प्रभावी बन सके। और इसके लिए सबसे पहली शर्त है कि 'सत्य' जड़-भौतिक सत्ता तथा 'प्रकृति' में अभिव्यक्त हो उसके पहले तुमलोग बिना किसी हिचक के, 'सत्य' को अपने अन्दर पूरी तरह से स्वीकार कर लो।

सम्पूर्ण समर्पण, भागवत प्रभाव के प्रति ऐकान्तिक रूप से आत्मोद्घाटन, हमेशा और पूर्ण रूप से सत्य का चुनाव और मिथ्यात्व का बहिष्कार—केवल ये ही हैं इसकी शर्तें। लेकिन इन शर्तों को पूरी तरह से, बिना कुछ बचाये, बिना टाल-मटोल या छल-कपट के, सरलता और सच्चाई के साथ सबसे अधिक जड़-भौतिक तथा उसकी क्रियाओं तक में पूरा करना होगा।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३७२-७३

—श्रीअरविन्द

दिव्य पूर्णता हमेशा ऊपर उपस्थित रहती है; लेकिन मनुष्य के लिए चेतना में दिव्य बनना और भीतर और बाहर दिव्य जीवन जीना और उसी के अनुसार कार्य करना; यही है आध्यात्मिकता का अर्थ। इससे कम सभी अर्थ अपर्याप्त घपलेबाज़ी और धोखेबाज़ी हैं।

जैसा कि आत्मपरक धर्म स्वीकार करते हैं, यह हर मानव-जीवन में व्यक्तिगत परिवर्तन द्वारा ही लाया जा सकता है। सामुदायिक आत्मा तो केवल व्यक्तिगत सत्ता के महान् अर्ध-सचेतन उत्स के रूप में होती है; अगर उसे निश्चित रूप से एक आध्यात्मिक रूप या नये प्रकार का सामुदायिक जीवन लेना हो तो वह उसे बनाने वाले व्यक्तियों की वृद्धि के द्वारा ही हो सकता है। उसे बनाने वाले व्यक्तियों की आत्मा और जीवन जैसा होगा वैसी ही समुदाय की उपलब्ध भावना और उसके जीवन की सच्ची शक्ति होगी। जो समाज अपने मनुष्यों द्वारा नहीं बल्कि संस्थाओं द्वारा जीता है वह सामुदायिक आत्मा नहीं बल्कि मशीन होता है। उसका जीवन एक यान्त्रिक उत्पादन बन जाता है और जीवन्त वृद्धि नहीं रहता। अतः आध्यात्मिक युग के आने से पहले ऐसे लोगों की बढ़ती हुई संख्या का प्रकट होना ज़रूरी है जो मनुष्य के सामान्य बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक जीवन से अब सन्तुष्ट नहीं रहते, मगर देखते हैं कि मानवजाति का असली लक्ष्य है महान्तर विकास और वे उसे अपने अन्दर लाने की, दूसरों को उसकी ओर ले जाने की और उसे जाति का माना हुआ लक्ष्य बनाने की कोशिश करते हैं। वे जिस अनुपात में सफलता पाते हैं और जिस हद तक वे इस विकास को ले जाते हैं, वे अभी तक अनुपलब्ध जिस सम्भाव्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं, वही भविष्य के लिए वास्तविक सम्भावना बन जायेगा।

—श्रीअरविन्द

एक बालक को पत्र

(ये पत्र आश्रम में प्रवेश पाने वाले पहले बालकों में से एक के नाम हैं। यह दस वर्ष की उम्र में आश्रम में आया था। युवावस्था से ही उसे संगीत, चित्रकला और काव्य में रस था। बाद में वह श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र में संगीत का अध्यापक बन गया। उसने बारह वर्ष की उम्र में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

मेरे प्यारे नन्हे बालक,

मैं सदा तुम्हें अपनी शान्ति में लपेटे रहती हूँ : तुम्हें उसे बनाये रखना सीखना चाहिये। मैं सदा तुम्हारे हृदय में रहती हूँ : तुम्हें मेरी उपस्थिति के बारे में सचेतन होना चाहिये, उस शक्ति को ग्रहण करना और उसका उपयोग करना चाहिये जिसे मैं तुम्हारे अन्दर उँडेल रही हूँ ताकि तुम सभी कठिनाइयों पर विजय पाने के योग्य बन जाओ।

प्रेम।

२१ मई १९३४

मेरे प्रिय बालक,

इस आनन्द को, इस विश्राम को, विजय के इस आश्वासन को सावधानी से बनाये रखो। ये दुनिया भर की समस्त धन-सम्पदा से अधिक मूल्यवान् हैं और ये तुम्हें मेरे बहुत नज़दीक रखेंगी।

तुम्हारी माँ का प्यार।

२२ मई १९३४

मेरे प्यारे बालक,

केवल आध्यात्मिक शक्ति में ही यह बल है कि प्राण पर शान्ति आरोपित कर सके क्योंकि अगर उस पर उससे ज़्यादा बड़ी शक्ति द्वारा शान्ति आरोपित न की जाये तो प्राण उसे कभी स्वीकार न करेगा।

अतः तुम्हें अपने-आपको आध्यात्मिक शक्ति की ओर खोलना और उसे अपने अन्दर काम करने देना चाहिये। तब तुम अधिकाधिक सतत शान्ति और आनन्द में निवास करोगे।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

२४ मई १९३४

मेरे प्यारे बालक,

मैं तुम्हें हमेशा अपनी बाँहों में लिये रहती हूँ, अपने हृदय से चिपकाये रहती हूँ और मुझे इस बारे में कोई शंका नहीं है कि अगर तुम जगत् को भूल कर मुझ पर एकाग्र होओ तो तुम उसके बारे में अभिज्ञ हो जाओगे। अपने विचारों को मेरी ओर मोड़ कर तुम अपने-

आपको मेरे अधिकाधिक निकट अनुभव करोगे और शान्ति तुम्हारे हृदय में निवास करने के लिए आ जायेगी।

प्रेम।

२५ मई १९३४

मेरे प्यारे नन्हे बालक,

आन्तरिक तादात्म्य द्वारा ही सच्ची निकटता आ सकती है। मैं समस्त प्रेम के साथ सदा तुम्हारे साथ रहती हूँ।

तुम्हारी माँ।

२ जून १९३४

मेरे प्यारे बालक,

जब तुम यह समझ जाओगे कि विद्रोह करना सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ चीज़ है और जब तुम विद्रोह करने की इस बुरी आदत को छोड़ दोगे तब तुम देखोगे कि तुम्हारे दुःख-दर्द भी चले जायेंगे और उनके स्थान पर आयेगा अपरिवर्तनशील सुख।

अपनी समस्त सत्ता के साथ, मैं तुम्हारे लिए यह प्रगति और यह रूपान्तर चाहती हूँ।

सप्रेम।

१० जून १९३४

मेरी मधुर माँ,

मैं वही बनूँगा जो तुम मुझे बनाना चाहती हो। प्यारी माँ, मेरी इस बचकानी प्रार्थना को स्वीकार करो।

मैं तुम्हारे लिए चाहती हूँ चेतना, ज्ञान, कलात्मक क्षमता, शान्ति और पूर्ण समता में आत्म-संयम और ऐसा सुख जो आध्यात्मिक उपलब्धि का परिणाम होता है। क्या यह बहुत महान् और विस्तृत कार्यक्रम है?

तुम्हारी माँ के आशीर्वाद के साथ।

१२ जून १९३४

माँ,

मैं अनुशासन चाहता हूँ।

यह बहुत अच्छी बात है और मैं इसे स्वीकार करती हूँ। भीतरी और बाहरी अनुशासन के बिना तुम जीवन में कुछ भी नहीं पा सकते, न तो आध्यात्मिक तौर पर न जड़-भौतिक तौर पर। वे सब जो किसी सुन्दर या उपयोगी चीज़ का सृजन करने में सफल हुए हैं, ऐसे लोग थे जो अपने-आपको अनुशासित करना जानते थे।

समस्त प्रेम के साथ सदा तुम्हारे संग।

२३ जून १९३४

हाँ, मेरे प्यारे बच्चे,

मैं तुम्हारी सच्ची माँ हूँ जो तुम्हारे अन्दर की सच्ची सत्ता को जन्म देगी, ऐसी सत्ता को जो मुक्त, शान्त, बलवान् और परिस्थितियों से अछूती, सदा सुखी रहती है।

तुम्हारी माँ की ओर से प्रेम।

२५ जुलाई १९३४

मेरी प्यारी माँ,

अपने बालक को ऊर्जा और शक्ति प्रदान करो। मुझे अपने हृदय में ले लो माँ, मैं तुम्हारे अन्दर निवास करूँ।

मेरे प्यारे बालक,

मैं हमेशा तुम्हें अपने हृदय में लिये रहती हूँ और तुम्हें ऊर्जा में स्नान कराया जाता है, स्थिर और विश्वासपूर्ण अभीप्सा द्वारा तुम उसे ग्रहण करोगे। मेरा समस्त प्रेम तुम्हारे साथ है। मैं आशा करती हूँ कि तुम मेरे पत्र किसी को नहीं दिखलाते। उन्हें अपने तक ही रखना अच्छा है; नहीं तो अगर तुम औरों को दिखलाओगे तो मैं उनमें जो शक्ति रखती हूँ वह उड़ जायेगी।

११ अगस्त १९३४

माँ, मेरी प्यारी माँ,

तुम जानती हो कि मुझे क्या चाहिये, मुझे अपने हृदय में ले लो, मुझे घर लो।

मेरे प्यारे बालक,

मुझे अच्छी तरह मालूम है कि तुम्हें क्या चाहिये—वह है मेरे प्रेम और मेरे संरक्षण से घिरा रहना। सचमुच मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है, तुम्हारे चारों ओर है; परन्तु तुम्हें अपनी ओर से, अपने-आपको उसकी ओर खोलना चाहिये, उसे तुम्हें अपने-आपको लपेट लेने और सहायता करने देना चाहिये।

१६ अगस्त १९३४

मेरी प्यारी माँ,

मैं आज शाम को जो लिफ़ाफ़ा भेज रहा हूँ, मैं उस पर बने सिंह के जैसा होना चाहता हूँ।

मेरे प्यारे छोटे-से सिंह,

मैं तुम्हारे हृदय में हूँ ताकि वह खुश रहे, तुम्हारे सिर में हूँ ताकि वह शान्तिपूर्ण रहे और तुम्हारे हाथ में हूँ ताकि उसमें कौशल आये।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

२१ अगस्त १९३४

मेरे प्यारे नन्हें बालक,

तुम्हारे सिंह बहुत सुन्दर हैं। वे अपने बल में कितने स्थिर हैं। बलवान् सत्ता हमेशा स्थिर होती है। दुर्बलता ही चञ्चलता का कारण होती है। मैं तुम्हें (अपने लिफाफे पर, परन्तु वास्तव में भी) वह विश्राम भेज रही हूँ जो संकेन्द्रित ऊर्जा से आता है।

विश्वास रखो कि तुम मजबूत और अचञ्चल बनोगे, पूर्ण उपलब्धि और उसे प्राप्त करने के लिए भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता पर श्रद्धा रखो। चेतना और शक्ति हमेशा तुम्हारे साथ हैं, साथ ही मेरा समस्त प्रेम भी।

तुम्हारी माँ।

२१ अगस्त १९३४

मेरी प्यारी माँ,

मुझे शुद्ध करो। छायाओं को दूर करो, मैं अब और विद्रोह न करूँगा।

तुम्हें मेरे स्थायी प्रेम में विश्वास को कभी न खोना चाहिये।

३० अगस्त १९३४

माँ,

मेरे सिर में दर्द है। मैं बहुत थका हुआ हूँ।

मेरे बालक, मेरा समस्त प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है; उसे धकेल न दो।

१ सितम्बर १९३४

मेरे प्यारे बालक,

मुझे भोजनालय से सूचना मिली है कि तुमने कल शाम को और आज सारे दिन कुछ भी नहीं खाया। क्यों? अगर तुम बीमार हो तो तुम्हारी देख-रेख होनी चाहिये। मैं डॉक्टर को तुम्हारे पास भेज दूँगी। लेकिन अगर तुम बीमार नहीं हो तो तुम्हें खाना चाहिये। अगर तुम नियमित रूप से नहीं खाओगे तो तुम्हारा मस्तिष्क क्षीण हो जायेगा और तुम बुद्धि खो बैठोगे, तब?

अगर तुम नियमित रूप से नहीं खाते हो तो मुझे कष्ट होता है। क्या तुम अपनी माँ को कष्ट देना चाहते हो जो तुमसे प्यार करती और केवल तुम्हारा भला चाहती है?

सितम्बर १९३४

मेरी प्यारी माँ,

आज से मैं अनियमित नहीं रहूँगा। तुम भली-भाँति जानती हो कि मैं बीमार नहीं हूँ। तुम जानती हो कि एक बादल-सा आ गया था। आज मैं भोजनालय जा रहा हूँ। मेरी माँ, मैं अच्छा बनना चाहता हूँ। अब सब कुछ चला गया है। मैं तुम्हारा नन्हा बालक बनना चाहता हूँ।

मेरे प्यारे बालक,

तुम बहुत अच्छे बच्चे हो, और मैं यह जान कर बहुत खुश हूँ कि तुमने कल शाम को भोजन कर लिया था और अब सब बादल छूट गये हैं। अब तुम्हें उन्हें कभी लौट कर न आने देना चाहिये और उसके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि हमेशा मेरी भुजाओं में झूलते रहो, मेरे प्रेम की रक्षा में रहो जो तुम्हें कभी नहीं छोड़ता।

७ सितम्बर १९३४

मेरी प्यारी माँ,

क्या मैंने कोई ऐसी चीज़ की है जिससे तुम नाराज़ हो?

मेरा सिर दर्द कर रहा है। मैं थका हुआ अनुभव करता हूँ।

तुम बिलकुल ग़लती पर हो। मैं तुमसे बिलकुल नाराज़ नहीं हूँ। बस मुझे चिन्ता है क्योंकि तुम्हें हमेशा सिर-दर्द रहता है, तुम थके रहते हो।

मैं चाहती हूँ कि यह सब चला जाये और तुम पूरी तरह स्वस्थ रहो। उसके लिए तुम्हें एक भौतिक अनुशासन का पालन करना होगा। नियमित रूप से सोओ, नियमित रूप से खाओ, नियमित रूप से कसरत करो इत्यादि, इत्यादि। और दुःख की बात यह है कि तुम समस्त अनुशासन से इन्कार करते हो। इससे मेरा काम बहुत कठिन हो जाता है।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

११ सितम्बर १९३४

मेरी सर्वाधिक प्यारी माँ,

मैं बहुत थक गया हूँ, मेरे सिर में दर्द हो रहा है। माँ, मैं क्या करूँ?

मेरे प्यारे बालक,

तुम जानते हो कि मेरा प्रेम सदा तुम्हारे साथ रहता है और मेरी इच्छा है कि तुम स्वस्थ हो जाओ। तुम्हें स्वास्थ्य देने के लिए मेरी शक्ति तुम्हारे साथ रहती है। मैं तुम्हें अपनी भुजाओं में लेती हूँ, मैं तुम्हें अपने हृदय से लगाती हूँ।

२० सितम्बर १९३४

मेरे प्यारे बालक,

मैं नहीं चाहती कि तुम बीमार होओ और तुम्हें रोग-मुक्त करने के लिए मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ—लेकिन तुम्हें भी तो रोग-मुक्त होने की इच्छा करनी चाहिये। अपने-आपको कष्ट न दो, हमेशा मेरी भुजाओं में चिपके रहो ताकि मेरे प्रेम और शक्ति को पा सको।

२३ सितम्बर १९३४

मेरे प्यारे नन्हें बच्चे,

मैं तुम्हारे साथ पूरी तरह सहमत हूँ कि अहंकार, दर्प और ईर्ष्या को गायब हो जाना चाहिये। सचमुच ये भद्दी, निकृष्ट और अज्ञानभरी चीज़ें हैं जो समस्त प्रगति को रोक देती हैं। इन सब चीज़ों पर विजय पाने के लिए मेरी शक्ति तुम्हारे साथ है। और मेरा प्रेम तुम्हें कभी नहीं छोड़ता।

२५ सितम्बर १९३४

मेरी प्यारी माँ,

मैं दुःखी नहीं हूँ। यह सब मिथ्यात्व है।

माँ, अपने छोटे-से बालक के साथ रहो।

मेरे प्यारे बालक,

हमेशा, हमेशा मैं तुम्हारे साथ रहती हूँ। तुम जितने अधिक अचञ्चल-स्थिर और सुखी रहोगे, उतना ही अधिक इसका अनुभव कर सकोगे।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

३ अक्टूबर १९३४

मेरी नन्हें माँ,

मुझे शान्ति दो। काम में आनन्द दो। मुझे अपना यन्त्र बना लो।

मेरे प्यारे बालक,

मुझे यह जान कर बहुत खुशी हुई कि तुम मेरे यन्त्र बनना चाहते हो। मेरा यन्त्र होने के लिए तुम्हें नियमित, ऊर्जस्वी, साहसी, सहिष्णु और हमेशा खुशमिज़ाज होना चाहिये। मुझे इसमें कोई शंका नहीं है कि तुम ये गुण प्राप्त कर सकते हो।

हमेशा तुम्हारे साथ।

२५ अक्टूबर १९३४

मेरी नन्हें माँ,

मैं शान्ति चाहता हूँ। मुझे लगता है कि सब कुछ अशान्त है। माँ, मुझे शान्ति दो।

मेरे बालक,

मैं तुम्हें हमेशा शान्ति और शक्ति में लपेटे रहती हूँ, लेकिन बहुधा तुम अपने-आपको बन्द रखते हो और मैं तुम्हें जो देती हूँ उसे लेने से इन्कार करते हो।

अगर तुम मेरे ऊपर विश्वास तक नहीं करते तो तुम मेरी सहायता का अनुभव कैसे करोगे और उसका लाभ कैसे पाओगे? फिर भी मेरा प्रेम सदा तुम्हारे साथ है।

१ नवम्बर १९३४

मेरी प्यारी, प्यारी माँ,
क्या तुम मुझे क्षमा न करोगी? मुझे अपनी भुजाओं में ले लो।

मेरे बालक,
निश्चय ही मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ लेकिन अपनी ओर से तुम्हें भी इन बुरे विचारों को मन से बुहार फेंकना चाहिये जो तुम्हारे लिए हानिकर हैं।
मेरा प्रेम तुम्हारे साथ है।

२ नवम्बर १९३४

मेरी प्यारी नन्हीं माँ,
मैंने जो भूलों की हैं उन्हें क्षमा करो। मुझे शान्ति दो। हमेशा मेरे हृदय में निवास करो।

हाँ मेरे बालक, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ; लेकिन मैं कितना अधिक चाहती हूँ कि तुम अधिक अचञ्चल, अधिक समझदार, अधिक अध्ययनशील बनो!

क्या तुम्हें नहीं लगता कि अब समय आ गया है जब तुम्हें ये गुण विकसित करने चाहियें, अगर तुम जीवन में कुछ भी करना चाहो तो ये एकदम से अनिवार्य हैं?

५ दिसम्बर १९३४

प्यारी, प्यारी माँ,
सदा मेरे संग रहो, तुम सब कुछ जानती हो।

हाँ, मैं सब कुछ जानती हूँ और इसीलिए मुझे मालूम है कि मेरा नन्हा बच्चा हमेशा समझदार नहीं रहता और इसी कारण उसके सिर में और पेट में दर्द रहता है।

२२ दिसम्बर १९३४

मेरी प्यारी माँ,
मैं हमेशा तुम्हें अपने नज़दीक अनुभव करना चाहता हूँ, मुझे शान्ति चाहिये।

मेरे नन्हें बालक,
मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ, तुम्हारे लिए शान्ति, प्रशान्ति, अचञ्चलता और शक्ति लाती हूँ। लेकिन मेरी उपस्थिति को अनुभव करने के लिए तुम जानते ही हो कि तुम्हें क्या करना चाहिये और विशेष रूप से यह कि क्या नहीं करना चाहिये।
तुम्हारी माँ की ओर से प्रेम।

१ फ़रवरी १९३५

मेरे प्यारे बालक,

तुम्हारे सिर-दर्द के लिए सबसे अच्छी चीज़ है बहुत-सी कसरत करना, उदाहरण के लिए बागबानी करना।

२५ फरवरी १९३५

मेरी मधुर माँ,

मेरे विचारों को अपने-आपसे भर दो। हमेशा अपने नन्हें बालक के साथ रहो। मुझे गहरी और स्थायी शान्ति प्रदान करो।

मेरे प्यारे बच्चे,

मैं तुम्हारे हृदय में शान्ति रख रही हूँ; लेकिन उसके बारे में सचेतन होने के लिए, मन से मेरी ओर उन्मुख होकर जितनी अधिक बार हो सके यह दोहराओ, “तुमने मेरे हृदय में शान्ति स्थापित की है; मुझे उसकी उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ बनाओ।”

मेरे समस्त प्रेम सहित।

२७ फरवरी १९३५

मेरे प्यारे बालक,

यह न भूलो कि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ और केवल वही करो जो तुम लज्जित हुए बिना मेरे सामने कर सकते हो। मेरा मतलब यह है कि ऐसी कोई चीज़ कभी न करो जिसे तुम मेरी भौतिक उपस्थिति में करने का साहस न करोगे, क्योंकि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

प्रेम।

६ मार्च १९३५

मेरी मधुर माँ,

पता नहीं मेरे अन्दर कोई चीज़ खिन्न क्यों है। जब मैं बहुत खुश होता हूँ, सचमुच खुश होता हूँ तब भी यह भाग खिन्न रहता है। माँ, मेरे अन्दर कौन-सा भाग ऐसा है? हृदय, प्राण या कोई एकदम नगण्य-सा और सतही भाग?

मेरे प्यारे बालक,

वस्तुतः यह कोई बहुत ही सतही चीज़ है, फिर भी इसे ठीक तो होना ही चाहिये। तुम्हारा शरीर अपने-आपको बहुत मज़बूत अनुभव नहीं करता और खिन्न रहता है क्योंकि उसमें स्वास्थ्य का समुचित सन्तुलन नहीं है। सबसे अच्छा उपचार है खुली हवा में कसरत और प्रचुर भोजन।

१६ मार्च १९३५

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. १३९-१५१

पश्चिम के लोग तथा भारतीय योग

मैं समझता हूँ कि तुम्हारे पत्र का उत्तर देने का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि उसमें सन्निहित प्रश्नों को अलग-अलग लिया जाये। तुमने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि पश्चिमी प्रकृतिवाले के लिए योग करना असम्भव है, इसी से मैं आरम्भ करूँगा।

मैं ऐसे निर्णय के लिए कोई कारण नहीं देख पाता; यह समस्त अनुभव के विपरीत है। यूरोप के लोगों ने शताब्दियों से सफलतापूर्वक आध्यात्मिक साधनाओं का अभ्यास किया है जो पूर्वीय योग से मिलती-जुलती थीं और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की उन रीतियों का भी अनुसरण किया है जो उनके यहाँ पूर्व से आयी थीं। उनका पश्चिमी स्वभाव उनके मार्ग में बाधक नहीं हुआ। प्लोटिनस के और उनसे गृहीत यूरोपियन रहस्यवादियों के मार्ग और अनुभव, जैसा कि अभी हाल में सिद्ध किया गया है, एक प्रकार के भारतीय योग से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। विशेषकर, ईसाई मत के प्रचारित होने के समय से, यूरोपियन लोगों ने इसकी रहस्यवादी साधनाओं का अनुसरण किया है जो तत्त्वतः एशिया की साधनाओं से भिन्न नहीं थीं, चाहे वे अपने रूपों, नामों और प्रतीकों में जितनी अधिक भिन्न क्यों न रही हों। यदि प्रश्न स्वयं भारतीय योग का—उसके अपने विशिष्ट रूपों में—हो फिर भी अनुभव इस अनुमानित अयोग्यता का खण्डन करता है। प्राचीन युगों में पश्चिम के यूनानी और सीथियन तथा पूर्व के चीनी, जापानी और कम्बोडियन लोगों ने बिना किसी कठिनाई के बौद्ध और हिन्दू साधनाओं का अनुसरण किया; वर्तमान काल में पाश्चात्य लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या ने वेदान्त या वैष्णव या अन्य भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं को ग्रहण किया है और इस अयोग्यता अथवा अनुपयुक्तता की शिकायत कभी न तो शिष्यों की ओर से की गयी है और न गुरुओं की ओर से। और, मैं नहीं समझता कि इस प्रकार की कोई अलंघ्य खाई **क्यों** होनी चाहिये; क्योंकि पूर्व के आध्यात्मिक जीवन तथा पश्चिम के आध्यात्मिक जीवन के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है। जो कुछ भेद है वह सदा नामों, रूपों और प्रतीकों का रहा है अथवा किसी एक या दूसरे लक्ष्य पर अथवा आन्तरिक अनुभव के किसी एक या दूसरे पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया जाता रहा है। इस विषय में भी बहुधा जिन भेदों का आरोप किया जाता है वे या तो वास्तव में नहीं हैं या उतने बड़े नहीं हैं जितने कि प्रतीत होते हैं। मैंने एक ईसाई लेखक को (जो इन बौद्धिक तुच्छ विभेदों के विषय में तुम्हारे मित्र एंगस (Angus) की आपत्ति में हिस्सा बँटाता हुआ नहीं प्रतीत होता) यह आरोप लगाते हुए देखा है कि हिन्दू आध्यात्मिक चिन्तन और जीवन केवल परात्पर को स्वीकार करता और उसी का अनुसरण करता है और सर्वव्यापी भगवान् की उपेक्षा करता है, जब कि ईसाई मत भगवान् के दोनों स्वरूपों को उचित स्थान देता है; परन्तु वास्तव में देखा जाये तो भारतीय आध्यात्मिकता ने, नाम और रूप से परे उच्चतम दिव्य तत्त्व पर अन्तिम ज़ोर देने पर भी, संसार के अन्दर परिव्याप्त भगवान् और मनुष्य-प्राणी के अन्तरस्थ भगवान् को

पूरी-पूरी मान्यता और स्थान प्रदान किया है। यह सच है कि भारतीय आध्यात्मिकता के पीछे एक विशालतर और सूक्ष्मतर ज्ञान विद्यमान है। इसने सैकड़ों भिन्न-भिन्न पथों का अनुसरण किया है, भगवान् की ओर जाने के प्रत्येक प्रकार के मार्ग को स्वीकार किया है और इस तरह वह उन क्षेत्रों में प्रवेश करने में समर्थ हुई है जो पाश्चात्य साधना के कम विस्तृत क्षेत्र से बाहर हैं। परन्तु इससे मौलिक तत्त्वों में कोई अन्तर नहीं आता, और सच पूछा जाये तो केवल मौलिक तत्त्वों का ही विशेष मूल्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय योग का अभ्यास करने की बहुतेरे पश्चिमी लोगों की योग्यता की तुम्हारी व्याख्या यह है कि उनके यूरोपियन और अमरीकन शरीर में हिन्दू स्वभाव है। तुम कहते हो कि जैसे गाँधी आन्तरिक रूप में एक नैतिकतावादी पाश्चात्य और ईसाई हैं, वैसे ही आश्रम के पाश्चात्य सदस्य अपने दृष्टिकोण में मूलतः हिन्दू हैं। परन्तु यह हिन्दू दृष्टिकोण ठीक-ठीक है क्या वस्तु? मैंने स्वयं उनके अन्दर कोई ऐसी चीज़ नहीं देखी है जिसका वर्णन इस प्रकार किया जाये और न माताजी ने ही देखी है। मेरा अपना अनुभव तुम्हारी व्याख्या का पूर्णतः खण्डन करता है। मैं सिस्टर निवेदिता को अच्छी तरह जानता था (वे बहुत वर्षों तक राजनीतिक क्षेत्र में एक संगी और सहकर्मिणी थीं) और सिस्टर क्रिस्टीन से मिला था— ये दोनों विवेकानन्द की दो घनिष्ठ यूरोपियन शिष्याएँ थीं। दोनों ही अपने अन्तरतम हृदय में पाश्चात्य थीं और हिन्दू दृष्टिकोण का कुछ भी अंश उनमें नहीं था; यद्यपि सिस्टर निवेदिता में, जो आयरलैंड की महिला थीं, एक ऐसी शक्ति थी कि वे तीव्र सहानुभूति के द्वारा अपने चारों ओर के लोगों की जीवन-पद्धति के अन्दर प्रवेश कर जाती थीं, पर उनका अपना स्वभाव अन्त तक पाश्चात्य ही बना रहा, फिर भी उन्हें वेदान्त की धारा में आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यहाँ, आश्रम में मैंने उन सदस्यों को देखा है जो पश्चिम से आये हैं (मैं विशेष रूप से उन लोगों को समाविष्ट करता हूँ जो यहाँ बहुत दिनों से रह रहे हैं), वे अपने समस्त गुणों में विशेष रूप में पाश्चात्य हैं और उनमें पश्चिमी मन तथा प्रकृति की सभी कठिनाइयाँ भी हैं तथा उन्हें अपनी कठिनाइयों के साथ ठीक वैसे ही निपटना पड़ा है, जैसे कि भारतीय सदस्यों को अपने स्वभाव और शिक्षा द्वारा उत्पन्न सीमाओं और बाधाओं के साथ संघर्ष करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। निःसन्देह, उन्होंने योग की शर्तों को तत्त्वतः स्वीकार कर लिया है, पर जब वे आये तब उनमें हिन्दू दृष्टिकोण नहीं था और मैं नहीं समझता कि उन्होंने उसे प्राप्त करने का प्रयास ही किया। वे भला वैसे क्यों करते? सच पूछा जाये तो योग में हिन्दू दृष्टिकोण या पाश्चात्य दृष्टिकोण का कोई मौलिक महत्त्व नहीं है, बल्कि महत्त्व है चैत्य पुरुष के झुकाव का और आध्यात्मिक लगन का, और ये चीज़ें सर्वत्र एक जैसी हैं।

आखिरकार, यौगिक दृष्टि से भारत के साधकों और पश्चिम में जन्मे हुए साधकों के बीच क्या भेद है? तुम कहते हो कि भारतीय के लिए उसका आधा योग हो चुका होता है —पहला कारण यह है कि उसका चैत्य पुरुष बहुत अधिक प्रत्यक्ष रूप में परात्पर भगवान् की ओर उन्मुक्त रहता है। विशेषण को छोड़ देने पर भी, (क्योंकि ऐसे बहुत-से लोग नहीं होते जो

स्वभावतः ही परात्पर की ओर आकर्षित हों, अनेक लोग अधिक आसानी से साकार भगवान् को, यहाँ अन्तर्यामी भगवान् को खोजते हैं, विशेषकर यदि वे उन्हें किसी मानव-शरीर में प्राप्त कर सकें); यहाँ भारत में निःसन्देह कुछ सुविधा है। इसका कारण बस यह है कि भारत में आध्यात्मिक खोज का वातावरण और साधना तथा अनुभूति की एक दीर्घ परम्परा प्रबल रूप में बनी हुई है, जब कि यूरोप में यह वातावरण नष्ट हो गया है, परम्परा खण्डित हो गयी है, और दोनों को फिर से निर्मित करना होगा। यहाँ मूलभूत शंका-सन्देह का अभाव है जो इतना अधिक यूरोपियन लोगों या, इतना और जोड़ दें कि, यूरोपियन भाववाले भारतीयों के मन को आक्रान्त करता है, यद्यपि इससे भारतीय साधकों में व्यावहारिक तथा अत्यन्त फलदायक प्रकार के सन्देह की महान् क्रिया बन्द नहीं हो जाती। परन्तु जब तुम किसी गभीरतर भाव में अपने सजातीय मानव-प्राणियों के प्रति उदासीनता की चर्चा करते हो तो मैं उसका अर्थ समझने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। मेरा अपना अनुभव यह है कि व्यक्तियों के प्रति—माता, पिता, स्त्री, बच्चों, मित्रों के प्रति—कर्तव्य की या सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि हृदय के घनिष्ठ बन्धन के द्वारा—यूरोप में भी लोग बिलकुल उतने ही प्रबल रूप में आसक्त होते हैं और बहुत बार तो और भी अधिक तीव्र रूप में; यह योगपथ में सबसे अधिक बाधा डालने वाली एक शक्ति है, कुछ लोग तो इस आकर्षण के सामने हार मान बैठते हैं और अनेक लोग, यहाँ तक कि उन्नत साधक भी, इसे अपने खून तथा अपने प्राणिक तन्तु से बाहर निकाल फेंकने में असमर्थ होते हैं। दूसरों के साथ एक “आध्यात्मिक” अथवा “चैत्य” सम्बन्ध स्थापित करने का आवेग भी—जो बहुत सामान्य रूप में एक प्राणिक मिलावट को छिपाये रखता है और जो मिलावट उन्हें अपने एकमात्र लक्ष्य से विचलित करती है—प्रायः निरन्तर दिखायी देने वाला एक लक्षण है। यहाँ पाश्चात्य और पूर्विय मानव स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। केवल भारत की शिक्षा दीर्घकाल से यह रही है कि सब कुछ भगवान् की ओर मोड़ देना चाहिये और दूसरी प्रत्येक चीज़ को या तो त्याग देना चाहिये या एक गौण और सहायक क्रिया में बदल देना चाहिये अथवा उसके उन्नयन के द्वारा केवल भगवान् की खोज का प्रथम पग बना देना चाहिये। निःसन्देह, यह चीज़ भारतीय साधक को, यदि तुरन्त दत्तचित्त बनने में नहीं फिर भी अपने को अधिक पूर्णता के साथ लक्ष्य की ओर मोड़ देने में सहायता करती है। उसके लिए लक्ष्य सर्वदा एकमात्र भगवान् ही नहीं होते, यद्यपि यही सबसे ऊँची स्थिति मानी जाती है; परन्तु वह मुख्यतया और प्रथमतः आसानी से भगवान् को अपने आदर्श के रूप में ग्रहण करता है।

योगसाधना के अपने पथ में—कम-से-कम इस योग की साधना में—भारतीय साधक की अपनी निजी कठिनाइयाँ होती हैं, जो पश्चिमी साधक की कम मात्रा में होती हैं। पाश्चात्य प्रकृति की कठिनाइयाँ वे हैं जो आसन्न अतीत के यूरोपीय मन की प्रमुख प्रवृत्ति से उत्पन्न होती हैं। उसकी सामान्य बाधाएँ ये हैं—मौलिक शंका उठाने की बहुत अधिक तत्परता और मन में सन्देहवादी बने रहना; स्वभाव की आवश्यकता के रूप में मानसिक क्रियाओं को जारी रखने का अभ्यास, जिससे पूर्ण मानसिक नीरवता प्राप्त करने में अधिक कठिनाई होती है; सक्रिय

जीवन की समृद्धि से उत्पन्न बाहरी वस्तुओं की ओर एक प्रबल झुकाव (जब कि भारतीय साधक सामान्यतया अवसन्न या निगृहीत प्राणशक्ति से उत्पन्न दोषों से अधिकतर पीड़ित रहते हैं); मानसिक और प्राणिक स्वमतस्थापन की आदत और कभी-कभी आक्रामक रूप से जाग्रत स्वातन्त्र्य का भाव जो किसी महत्तर ज्योति और ज्ञान, यहाँ तक कि भागवत प्रभाव के प्रति भी किसी प्रकार के पूर्ण आन्तरिक समर्पण को कठिन बना देता है। परन्तु ये चीज़ें पश्चिमी लोगों में सार्वजनीन नहीं हैं, और ये, दूसरी ओर, बहुत-से भारतीय साधकों में भी विद्यमान हैं; विशिष्ट भारतीय स्वभाव की कठिनाइयों की तरह ही ये भी सत्ता के यथार्थ स्वभाव की चीज़ें नहीं हैं, बल्कि ऊपरी रचनाएँ हैं। ये अन्तरात्मा के मार्ग में स्थायी रूप से रोड़ा नहीं अटका सकतीं, बशर्ते कि अन्तरात्मा की अभीप्सा प्रबल और सुदृढ़ हो, आध्यात्मिक लक्ष्य ही साधक के जीवन की प्रमुख वस्तु हो। ये ऐसी रुकावटें हैं जिन्हें अन्दर की अग्नि आसानी से भस्म कर सकती है यदि इनसे छुट्टी पाने का संकल्प प्रबल हो, और यदि बाहरी प्रकृति दीर्घ काल तक इनसे चिपकी रहे और इनका समर्थन करे, फिर भी जिन्हें वह अन्त में निश्चय ही—यद्यपि कम आसानी से—जला देगी, बशर्ते कि वह अग्नि केन्द्रीय संकल्प, गभीरतर प्रवेग सब कुछ के पीछे हो और यथार्थ तथा सच्चाई से युक्त हो।

तुमने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय योग करने में पश्चिमी लोग असमर्थ होते हैं, यह केवल तुम्हारी अपनी कठिनाइयों के अत्यन्त अवसादपूर्ण तीव्र बोध की उपज है; तुमने उतनी ही बड़ी और कठिनाइयों को नहीं देखा है जिन्होंने दूसरों को दीर्घ काल तक परेशान किया है या अभी भी कर रही हैं। न तो भारतीयों के लिए और न यूरॉपियनों के लिए ही योग का मार्ग निर्विघ्न और सुगम हो सकता है; इसे देखने के लिए उनकी साधारण मानव-प्रकृति विद्यमान है ही। प्रत्येक मनुष्य को अपनी निजी कठिनाइयाँ महान् और चरम, और यहाँ तक कि लगातार और अटल बनी रहने के कारण असमाधेय प्रतीत होती हैं और विषाद तथा निराशा की संकटावस्थाओं को लम्बे काल तक बनाये रखती हैं। पर्याप्त श्रद्धा बनाये रखने या तुरन्त अथवा लगभग तुरन्त प्रतिक्रिया करने तथा इन आक्रमणों को रोक देने के लिए पर्याप्त चैत्य दृष्टि प्राप्त करने की शक्ति मुश्किल से सौ में दो-तीन व्यक्तियों को प्राप्त होती है। परन्तु मनुष्य को अपने मन में यह दृढ़ धारणा नहीं बैठा लेनी चाहिये कि मैं अक्षम हूँ अथवा इस धारणा के वशीभूत नहीं हो जाना चाहिये; क्योंकि ऐसे मनोभाव के लिए कोई वास्तविक कारण नहीं है और अनावश्यक रूप से यह मार्ग को अधिक कठिन बना देता है। जहाँ भी कोई अन्तरात्मा है जो एक बार जाग्रत हो गयी है, वहाँ निःसन्देह अन्तर में एक क्षमता है जो सभी ऊपरी दोषों से प्रबल हो सकती और अन्त में विजयी हो सकती है।

यदि तुम्हारा निष्कर्ष सत्य हो तो इस योग का सम्पूर्ण लक्ष्य ही एक व्यर्थ की चीज़ हो जायेगा; क्योंकि हम किसी एक जाति या एक राष्ट्र या एक महाद्वीप के लिए अथवा किसी ऐसी उपलब्धि के लिए कार्य नहीं कर रहे हैं जिसे प्राप्त करने की क्षमता केवल भारतीयों की अथवा केवल पूर्वीय लोगों की ही हो। फिर हमारा लक्ष्य यह भी नहीं है कि हम एक धर्म की

या कि किसी दार्शनिक मत की या किसी योगमार्ग की स्थापना करें, बल्कि हमारा लक्ष्य है आध्यात्मिक विकास और अनुभव के एक ऐसे क्षेत्र और एक ऐसे पथ का निर्माण करना जो एक ऐसे महत्तर सत्य को नीचे उतार लायेगा जो मन से अतीत तो होगा पर मानव-आत्मा और चेतना के लिए दुष्प्राप्य नहीं होगा। जो लोग उस सत्य की ओर आकर्षित होंगे वे सब उसे प्राप्त कर सकेंगे, चाहे वे भारत के हों अथवा अन्यत्र कहीं के, चाहे पूर्व के हों या पश्चिम के। सभी लोग अपनी व्यक्तिगत या सामान्य मानवीय प्रकृति में महान् कठिनाइयों का अनुभव कर सकते हैं; परन्तु सच पूछा जाये तो उनका भौतिक जन्म या उनका जातीय स्वभाव वह वस्तु नहीं है जो उनकी मुक्ति की एक अलंघ्य बाधा बन सके।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३६-४१

—श्रीअरविन्द

... मनुष्य की सच्ची आत्मा सतही हृदय में नहीं होती। वह सच्चे अदृश्य हृदय में होती है जो प्रकृति की किसी ज्योतिर्मयी गुफा में छिपा होता है : वहाँ हमारी आत्मा दैवी प्रकाश के किसी अन्तःस्पन्दन में होती है, एक नीरव अन्तर्तम सत्ता जिसके बारे में बहुत ही कम लोग अभिज्ञ होते हैं। यद्यपि सबमें आत्मा होती है, कुछ ही लोग अपनी आत्मा के बारे में सचेतन होते हैं या उसके सीधे आवेग का अनुभव करते हैं। वहाँ हमारी प्रकृति के अस्पष्ट समूह को सहारा देती हुई भगवान् की छोटी-सी चिनगारी निवास करती है और उसके चारों ओर चैत्य सत्ता का विकास होता है, जो संगठित आत्मा, या हमारे अन्दर सच्चा मनुष्य है। जैसे-जैसे मनुष्य के अन्दर चैत्य विकसित होता है और हृदय अपनी गतियों और प्रेरणाओं को प्रतिबिम्बित करता है, वैसे-वैसे मनुष्य अपनी आत्मा के बारे में अधिकाधिक सचेतन होता जाता है, फिर वह एक श्रेष्ठ पशु नहीं रहता और अपने अन्दर देवत्व की झँकियों के प्रति जागता है और अधिकाधिक गहरे जीवन और चेतना तथा दिव्य वस्तुओं की ओर प्रेरणा की चाह करता है। यह पूर्ण योग के निर्णायक क्षणों में से एक होगा जब यह चैत्य सत्ता मुक्त होकर, परदे के पीछे से बाहर लायी जाकर अपने शुभ शगुनों, दृष्टियों और आवेगों की भरी बाढ़ को मनुष्य के मन, प्राण और शरीर पर उँडेल देगी और पार्थिव प्रकृति पर भागवत निर्माण की तैयारी शुरू कर देगी।

—श्रीअरविन्द

अपने मन को कभी मूल्यांकन न करने दो

मन के लिए एक चीज़ करनी बहुत कठिन होती है, किन्तु मेरी दृष्टि में वह बहुत महत्वपूर्ण है। वह यह है कि अपने मन को चीज़ों और मनुष्यों के विषय में निर्णय कभी मत करने दो। यह कहना कि “यह अच्छा है, वह बुरा है, यह ठीक है, वह ग़लत है, इसमें यह दोष है, उसमें वह बुरी चीज़ है”, आदि-आदि,—यह निन्दात्मक फैसला होता है।

जो लोग बुद्धि से काम लेते हैं, वे जितने अधिक बुद्धिमान् होते हैं उतना ही अधिक वे यह समझने लगते हैं कि वे बिलकुल कुछ भी नहीं जानते और मन के द्वारा कोई कुछ भी नहीं जान सकता। तुम एक विशेष ढंग से सोच सकते हो, एक विशेष रीति से निर्णय कर सकते और देख सकते हो, किन्तु किसी भी चीज़ के बारे में सुनिश्चित नहीं हो सकते—और कभी होओगे भी नहीं। हमेशा कहा जा सकता है, “शायद वह ऐसा है”, या “शायद यह ऐसा है”, आदि-आदि, और यह अनिश्चित काल तक चलता रह सकता है, क्योंकि मन ज्ञान-प्राप्ति का यन्त्र नहीं है। विचारों के ऊपर विशुद्ध भाव होते हैं; विचारों का कार्य है विशुद्ध भावों को प्रकट करना। और जैसे विशुद्ध भाव विचार के ऊपर हैं, वैसे ही ‘ज्ञान’ विशुद्ध भावों के लोक से बहुत ऊपर है। अतः विचार से ऊपर उठ कर विशुद्ध भाव में जाना हमें सीखना होगा और स्वयं विशुद्ध भाव भी और कुछ नहीं, केवल ‘ज्ञान’ के लिए ही दूसरा शब्द है। और ‘ज्ञान’ तो केवल पूर्ण एकात्मता से ही प्राप्त हो सकता है। अतः, जब तुम अपनी छोटी-सी मानवीय मानसिकता के अन्दर, स्थूल चेतना की मानसिकता के अन्दर सिमटे रहते हो जो सदा सक्रिय रहती है, जो हर चीज़ पर दृष्टि डालती है, हर चीज़ को अपनी नकली श्रेष्ठता की ऊँचाई से जाँचती है, जो कहा करती है, “वह बुरा है, उसे ऐसा नहीं होना चाहिये”, तब तुम निश्चित रूप से, बिना किसी अपवाद के, सदा ही धोखा खाते हो। सबसे अच्छा है चुप रहना, चीज़ों को बहुत अच्छी तरह देखना, धीरे-धीरे अपने अन्दर सब कुछ अंकित कर लेना और कोई फैसला दिये बिना सबको अन्तर में रखे रहना। जब तुम इन सबको स्थिर भाव से, बिना किसी हलचल के अपने अन्दर रख सकोगे और उसे शान्तिपूर्वक अपनी चेतना के उच्चतम अंग के समक्ष प्रस्तुत कर सकोगे, साथ ही सतर्क नीरवता बनाये रखने का प्रयत्न करोगे और प्रतीक्षा करोगे, तब शायद, धीरे-धीरे, मानों बहुत दूर से और बहुत ऊपर से आने वाली प्रकाश-जैसी कोई चीज़ प्रगट होगी और तुम्हें सत्य का थोड़ा-सा अधिक ज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

किन्तु जब तक तुम अपने विचारों को फड़फड़ाते रहोगे, उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में काटते रहोगे तब तक तुम कभी कुछ नहीं जान पाओगे। आवश्यक हो तो तुम्हारे सामने मैं यह बात सौ बार दोहराऊंगी, पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि जब तक तुम्हें इस बात पर विश्वास नहीं हो जाता तब तक तुम अपने अज्ञान से कभी बाहर नहीं निकल सकोगे।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ४, पृ. ५६-५७

भगवान् पर भरोसा रखो

मनुष्य को भगवान् पर भरोसा रखना, उन पर निर्भर होना चाहिये और साथ-साथ कोई उपयुक्त बनाने वाली साधना करनी चाहिये—भगवान् साधना के अनुपात में नहीं बल्कि अन्तरात्मा की सच्चाई तथा उसकी अभीप्सा के अनुपात में फल प्रदान करते हैं। (मेरा मतलब है अन्तरात्मा की सच्चाई, भगवान् के लिए उसकी उत्कण्ठा तथा उच्चतर जीवन के लिए उसकी अभीप्सा से) फिर चिन्तित होने से—“मैं यह बनूँगा, वह बनूँगा, मैं क्या बनूँ” आदि सोचते रहने से भी कोई लाभ नहीं होता। कहना चाहिये : “मैं जो कुछ होना चाहता हूँ वह नहीं बल्कि जो भगवान् चाहते हैं कि मैं बनूँ वह बनने के लिए तैयार हूँ”—बाक़ी सब कुछ उसी आधार पर चलते रहना चाहिये।

*

तुमने फिर सही सिद्धान्त पकड़ लिया है—सम्पूर्ण रूप से श्रीमाँ का हो जाना और पूर्ण रूप से यह विश्वास बनाये रखना कि मनुष्य को बस उसी विश्वास के साथ चुपचाप चलते रहना है और जिन-जिन चीज़ों के आने की आवश्यकता है वे सब आयेंगी तथा भगवान् जो कुछ सम्पन्न करना चाहते हैं वह सब सम्पन्न हो जायेगा। संसार के अन्दर होने वाली क्रियाएँ मानव-मन की समझ के लिए अत्यन्त सूक्ष्म, विलक्षण और जटिल हैं—जब ज्ञान ऊपर से आता है और मनुष्य उच्चतर चेतना में उठा लिया जाता है केवल तभी उनको समझने की शक्ति आ सकती है। इस बीच मनुष्य को जिस चीज़ का अनुसरण करना है वह है उस श्रद्धा और प्रेम पर आधारित अन्तरस्थ गभीरतर चैत्य हृदय का आदेश जो एकमात्र सुनिश्चित पथप्रदर्शक ध्रुवतारा है।

*

यह सब मैं तुम्हें पहले ही समझा चुका हूँ। यह बिलकुल ठीक है कि, अपने-आप पर छोड़ देने पर, तुम कुछ भी नहीं कर सकते; यही कारण है कि तुम्हें उस शक्ति के सम्पर्क में रहना होगा जो यहाँ जो कुछ तुम अपने लिए नहीं कर सकते उसे तुम्हारे लिए कर देने के लिए मौजूद है। तुम्हें जो एकमात्र चीज़ करनी है वह यह है कि तुम उस शक्ति को कार्य करने दो और अपने-आपको उसके पक्ष में बनाये रखो, जिसका अर्थ है उस शक्ति में विश्वास बनाये रखना, उसी पर निर्भर रहना, अपने-आपको उद्विग्न और परेशान न करना, उसे शान्तिपूर्वक याद करना, उसे शान्तिपूर्वक पुकारना और उसे चुपचाप कार्य करने देना। यदि तुम ऐसा करो तो बाक़ी सब कुछ तुम्हारे लिए कर दिया जायेगा—एकदम तुरन्त नहीं, क्योंकि बहुत कुछ साफ-सफ़ाई करनी बाक़ी है, पर फिर भी लगातार और अधिकाधिक वह किया जाता रहेगा।

—श्रीअरविन्द

२६ अगस्त १९६७ का वार्तालाप

किसी शिष्य द्वारा पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में:

“मधुर माँ, कहा गया है कि हमेशा शुभ और सत्य की विजय होती है, लेकिन जीवन में प्रायः उल्टा ही दिखायी देता है। दुष्ट ही विजयी होते हैं और ऐसा लगता है कि किसी तरह पीड़ा से उनकी रक्षा होती रहती है।”

(माताजी हँसती हैं, फिर मौन रहती हैं।) लोग हमेशा दो विचारों को मिला देते हैं। वैश्व और आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय ही, लोग जिसे “शुभ” समझते हैं वह नहीं, बल्कि ‘सच’ ही, ‘सत्य’ ही विजयी होगा—यह निश्चित है। यानी, अन्त में भगवान् ही विजयी होंगे। यही कहा जाता है, जिन लोगों ने आध्यात्मिक जीवन यापन किया है उन्होंने यही कहा है—यह एक निरपेक्ष तथ्य है। मनुष्य इसका भाव ग्रहण करते हुए कहते हैं: “मैं अच्छा बच्चा हूँ, मैं जिसे सत्य समझता हूँ उसके अनुसार जीता हूँ, इसलिए सारी सृष्टि को मेरे लिए शुभ होना चाहिये।” (माताजी हँसती हैं) सबसे पहले, अपने विषय में व्यक्ति का अपना मूल्यांकन हमेशा सन्देहास्पद होता है, और फिर, जगत् जैसा अब है उसमें सब कुछ मिला-जुला है, यहाँ ‘सत्य’ का ‘विधान’ अपने-आपको मनुष्य की आधी अन्धी चेतना के आगे खुले तौर पर अभिव्यक्त नहीं करता—वह उसे समझ भी न पायेगी। मेरे कहने का ठीक-ठीक आशय यह है कि परम दृष्टि अपने-आपको निरन्तर चरितार्थ करती जा रही है, लेकिन मिश्रित भौतिक जगत् में उसकी उपलब्धि अज्ञान-भरी मानव दृष्टि को शुभ की विजय नहीं मालूम होती, यानी, उसकी विजय नहीं मालूम होती जिसे मनुष्य शुभ और सत्य कहते हैं। लेकिन (मज़ाक में कहें तो), यह भगवान् का दोष नहीं है, मनुष्यों का दोष है! यानी, प्रभु जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं, और मनुष्य नहीं समझते।

शायद सत्य के जगत् में सब कुछ वैसा ही होगा जैसा अब है, केवल वह अन्य प्रकार से दिखायी देगा।

दोनों। एक फ़र्क होगा। जगत् में वर्तमान अज्ञान और अन्धकार भागवत ‘क्रिया’ को विकृत रूप दे देते हैं; और स्वाभाविक है कि इसे लुप्त होना ही होगा; लेकिन यह भी सच है कि देखने का एक तरीका है जो... कहा जा सकता है कि जो उनकी बाह्य प्रतीति को एक और ही अर्थ दे देता है—दोनों इस तरह हैं (आपस में मिले होने की मुद्रा)।

(मौन)

हम हमेशा इसी बात पर लौट आते हैं कि मनुष्य का मूल्यांकन गलत होता है—गलत, क्योंकि वस्तुओं को देखने की उसकी दृष्टि गलत होती है, अधूरी होती है—और अनिवार्य रूप से इस मूल्यांकन के परिणाम गलत होते हैं।

संसार हमेशा बदलता रहता है, हमेशा; एक निमिष मात्र के लिए भी वह अपने जैसा नहीं रहता और सामान्य सामञ्जस्य अपने-आपको अधिकाधिक पूर्ण रूप में प्रकट करता रहता है; इसलिए कोई भी चीज़ जैसी-की-वैसी नहीं बनी रह सकती और विपरीत आभासों के होते हुए भी **समग्र** निरन्तर, प्रगति करता रहता है; सामञ्जस्य अधिकाधिक सामञ्जस्यपूर्ण होता जा रहा है, और 'अभिव्यक्ति' में सत्य अधिकाधिक सच होता जा रहा है। लेकिन उसे देखने के लिए तुम्हें समग्र को देखना चाहिये, जब कि मनुष्य देखता है केवल... मानव क्षेत्र भी नहीं, बल्कि केवल अपना निजी क्षेत्र, बिलकुल छोटा, बिलकुल छोटा, बहुत ही छोटा भाग देखता है—वह नहीं समझ सकता।

यह एक दोहरी चीज़ है जो अपने-आपको पारस्परिक क्रिया के द्वारा पूर्ण करती जा रही है (*वही, परस्पर मिले होने की मुद्रा*): जैसे-जैसे 'अभिव्यक्ति' अपने बारे में अधिक सचेतन होती जाती है, उसकी अभिव्यञ्जना अपने-आपको अधिक पूर्ण करती जाती है, अधिक सत्य भी होती जाती है। ये दोनों गतियाँ साथ-साथ चलती हैं।

(मौन)

उस दिन जब 'ज्ञान की चेतना' थी, तो जो चीज़ें बहुत स्पष्ट रूप में दिखायी दी थीं उनमें से एक यह थी: जब दिव्य 'अभिव्यक्ति' 'निश्चेतना' में से पर्याप्त रूप से बाहर निकल आयेगी जिससे संघर्ष की आवश्यकता, जो 'निश्चेतना' की उपस्थिति के कारण है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यर्थ हो जाये, वह बिलकुल स्वाभाविक रूप से गायब हो जायेगी, तब प्रगति प्रयास और संघर्ष के द्वारा होने की जगह सामञ्जस्य के साथ होनी शुरू होगी। मानव-चेतना इसी को धरती पर पूर्वानुमान से दिव्य सृष्टि के रूप में देखती है—यह भी केवल एक क़दम होगा। लेकिन अभी के पग के लिए यह एक प्रकार की सामञ्जस्यपूर्ण उपलब्धि है जो वैश्व प्रगति (जो अविरत है) को संघर्ष और पीड़ा द्वारा होने वाली प्रगति के स्थान पर, आनन्द और सामञ्जस्य द्वारा होने वाली प्रगति में बदल देगी... लेकिन जो दिखायी दिया वह यह था कि यह अपर्याप्त, अधूरी और अपूर्ण चीज़ बहुत लम्बे समय तक चलेगी—यदि समय के बारे में हमारी धारणा यही बनी रहती है, इसके बारे में मैं नहीं जानती। लेकिन सभी परिवर्तनों में समय उपलक्षित होता है, है न? यह ज़रूरी नहीं है कि वह समय के इसी रूप में प्रस्तुत हो जैसा कि हम समझते हैं, लेकिन उसमें अनुक्रम तो रहता ही है।

हमारे सामने सारे समय, ये सब तथाकथित समस्याएँ—मन के प्रश्न-पर-प्रश्न और समस्याएँ आती रहती हैं (सभी समस्याएँ 'अविद्या' में हैं, है न यही बात?)—केंचुए के लिए समस्याएँ।

जैसे ही तुम वहाँ ऊपर उठ जाओ, इन समस्याओं का अस्तित्व ही नहीं रहता, और न परस्पर विरोध ही रहता है। विरोध हमेशा दृष्टि की अपर्याप्तता से और किसी वस्तु को एक ही समय सब दृष्टिकोणों से देख सकने की अक्षमता से आते हैं।

बहरहाल, मैं प्रश्न पर वापस आती हूँ, मेरा खयाल है कि कभी किसी ज्ञानी ने यह नहीं कहा होगा : “तुम अच्छे बनो और बाह्य रूप में सब कुछ ठीक हो जायेगा”—क्योंकि यह मूर्खता है। अव्यवस्था के जगत् में, मिथ्यात्व के जगत् में इस प्रकार की आशा करना बुद्धिसंगत नहीं है। लेकिन अगर तुम काफ़ी सच्चे हो और अपने रहने के तरीके में सम्पूर्ण और समग्र हो, तो परिस्थितियाँ चाहे जैसी हों, तुम्हें आन्तरिक आनन्द और पूर्ण सन्तोष मिल सकता है, और उसे छूने की शक्ति न किसी व्यक्ति में है, न किसी चीज़ में।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ११, पृ. ८०-८२

... यूरोपीय मनुष्य का मानस एक ओडीसी है या ईलियड, जो अनगढ़, अपरिष्कृत रूप से ही सही, पर वीरता के साथ आगे बढ़ता जाता है, जो समृद्ध कुतूहल से भरा है, जो यथार्थ, ऊर्जस्वी द्रष्टा की तरह विचारों के खुशकी से घिरे सागर में विचरता है। एशियाई का मानस रामायण या महाभारत है जो भव्य और प्रेरक कल्पनाओं तथा आदर्शवादों की चमकती हुई अनन्तता या फिर विस्तृत नैतिक अभीप्सा तथा सदा परिवर्तित होते हुए और विचारों के नये वर्गित समूहों का विश्व है। पश्चिम के मनुष्य का मन वह भूमध्यसागर है जो छोटे, उपजाऊ द्वीपों से भरा है और ऐसे बन्दरगाहों से टँका है जिनकी ओर उनका स्वामी, जो व्यक्तिगत व्यापारी है, उत्सुकता के साथ अपना सौदा-सुलुफ़ लेकर ऊँची-ऊँची लहरों के टकराने के बाद भागता है। वह उत्सुकता के साथ चल पड़ता है और अपनी प्यारी धरती माँ को चूमता है। पूर्व के मनुष्य का मन एक सागर है और उसमें यात्रा करने वाला एक साहस-भरा यात्री और अन्वेषक है, वह एक कोलम्बस है जो महीनों उस असीम सागर में चक्कर लगाता है जो भूमि की पहुँच के बाहर है, उसके बन्दरगाह गिने-चुने और एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। वह अपनी तली में ऐसा बहुत-सा व्यापार का सामान नहीं लिये रहता जिससे तुम लेन-देन कर सको, फिर भी वह व्यापारी के लिए नये बाज़ार, नये जगत् और नयी दुनियाएँ खोल देता है। अपने अन्तर्भास और भविष्य-दृष्टि द्वारा वह घेरों को विस्तृत करने में सहायता देता है जब कि यूरोपीय हमेशा आग्रह के साथ लीक पर चलता रहता है। यूरोपीय तत्त्वतः वैज्ञानिक, कलाकार और व्यापारी है, एशियाई तत्त्वतः नैतिक, धर्मपरायण और दार्शनिक है। हाँ, यह फ़र्क कठोर या सुनिश्चित नहीं है...।

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के उत्तर

(७२)

उस रोज़ 'ज' ने एक अजीब-सी टिप्पणी की। उसने कहा कि जब 'र' किसी के साथ होता है, एक घण्टे तक उसके साथ रहता है, फिर उसके प्राण को लेकर किसी ऐसे व्यक्ति के पास चला जाता है जिसका स्वभाव पहले व्यक्ति के एकदम विपरीत हो, इससे होता यह है कि पहले व्यक्ति के प्राण को घसीट कर दूसरे के पास ले जाया जाता है। मैंने यह समझा कि 'र' की यह प्रवृत्ति उसकी अशान्ति का परिणाम है जो स्वाभाविक जान पड़ती है। लेकिन मेरी समझ में यह न आया कि इसके पीछे गुह्य बात क्या है—यानी, जब 'र' किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाता है, मान लीजिये 'न' के पास, तो 'ज' के साथ लम्बी और सुखद बातचीत के बाद क्या वह 'ज' के प्राण को 'न' तक ले जाता है?

“उसके प्राण” से तुम्हारा क्या मतलब है? अगर इसका यह अर्थ है कि “उसके प्राण का कुछ प्रभाव”, तब यह सही हो सकता है। जब कोई किसी के साथ होता है, उससे बातचीत इत्यादि करता है तो हमेशा कुछ प्राणिक विनिमय होता ही रहता है, जब तक कि व्यक्ति तुरन्त और जान-बूझकर दूसरे से आने वाले प्रभाव को एकदम अस्वीकार न कर दे। अगर कोई बहुत प्रभावी हो तो दूसरे का गहरा प्रभाव या संस्कार पड़ सकता है। तब अगर वह किसी दूसरे के पास जाता है तो यह सम्भव है कि वह एक के प्राण को दूसरे के अन्दर स्थानान्तरित कर दे। यह ऐसी चीज़ है जो निरन्तर होती रहती है। लेकिन ये चीज़ें तो यान्त्रिक रूप से होती ही रहती हैं—देने वाले को इस बात का पता तक नहीं चलता। अगर कोई सचेतन हो तो वह इन चीज़ों को होने से रोक सकता है।

२८ जनवरी १९३५

‘ज’ का कहना है कि ‘ह’ के अन्दर काम-वासना की प्रचण्ड गति है, और यह कि उसे पास से देखे बिना, दूर से ही वह इस चीज़ को पहचान लेता है। मैंने इसका कभी अनुभव नहीं किया, तो कम-से-कम वह मेरे ऊपर तो इसे नहीं फेंकती। या फिर उग्र के भेद से यह चीज़ विलुप्त हो जाती है।

यह प्रायः असम्भव ही है कि उसके अन्दर प्रच्छन्न काम-वासना की गति न हो, लेकिन ऐसा नहीं लगता कि वह किसी भी प्रकट गति के बारे में सचेतन है। साथ ही, वह औरों में काम-वासना जगाती है, लेकिन अपने यौवन और सौन्दर्य के स्वाभाविक परिणाम से अधिक और

कुछ नहीं दर्शाती।

अगर 'ज' की प्राणिक विनिमय की बात सही है तो इसका तो यह मतलब हुआ कि व्यक्ति को प्रणाम के समय माँ के पास से प्राप्त शक्ति को लेने के बाद न किसी से कोई बातचीत करनी चाहिये न कोई दूसरी क्रिया। लेकिन यह भला कैसे सम्भव होगा? कई मुद्दे उठाये जा सकते हैं, जैसे कि, प्रणाम के बाद क्या व्यक्ति को मुस्कुराना चाहिये या एकदम गम्भीर बने रहना चाहिये, क्या उसे यहाँ-वहाँ के मसलों को सुलझाना नहीं चाहिये, क्या आवश्यकता होने पर उसे किसी की मदद करनी चाहिये, क्या सीधा माँ के द्वारा दिये गये कार्य में आवश्यक बातचीत के सिवाय किसी से और कोई बातचीत नहीं करनी चाहिये? कोई विरला ही ऐसा होगा जो यह कर सके।

इतना भी सावधान रहने की ज़रूरत नहीं है। सामान्य प्राणिक विनिमय तो साधारण बात है। कोई भी किसी का प्राण खींच कर नहीं ले जा सकता, इसका मुख्य कारण यही है कि अगर ऐसा हो तो जिस व्यक्ति के प्राण को खींच लिया गया है वह मर जायेगा। हाँ, निस्सन्देह यह सम्भव है कि कोई किसी दूसरे की प्राणिक शक्तियों को निकाल ले और उसे एकदम बेबस, कमज़ोर या शुष्क छोड़ दे, लेकिन यह केवल नरपिशाच जैसों में होता है। यह भी सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी प्राणिक शक्तियों को हृदय से ज़्यादा बाहर कर दे और वह अपने-आपको एकदम निर्बल बना ले, उसकी ऊर्जा एकदम से चुक जाये, यह ऐसी चीज़ है जो कभी नहीं करनी चाहिये—केवल वे ही जो वैश्व प्राणिक 'शक्ति' से खींचना जानते हैं या आसानी से खींच सकते हैं और अपनी जीवनी शक्तियों को दोबारा भर सकते हैं, वे ही मुक्त रूप से शक्ति प्रदान कर सकते हैं। निश्चय ही सभी कुछ हृदय तक शक्ति खींचते ही हैं, नहीं तो वे ज़िन्दा ही नहीं रह पायेंगे, क्योंकि प्राणिक ऊर्जा हमेशा खर्च होती ही रहती है और मनुष्य को उसकी पूर्ति करते रहना होता है; लेकिन ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों के अन्दर खींचने की क्षमता सीमित होती है और बिना थके देने का सामर्थ्य भी सीमित होता है।

लेकिन विनिमय की सामान्य क्रियाएँ अहानिकर होती हैं, बशर्ते उन्हें संयत सीमाओं में रखा जाये। साधना में जो चीज़ मुश्किल पैदा करती है वह यह कि व्यक्ति अवाञ्छनीय प्रभावों के प्रति आसानी से खिंच सकता या उन्हें दूसरों में स्थानान्तरित कर सकता है। यही कारण है कि अमुक अवस्थाओं में बहुधा बातचीत, परस्पर व्यवहार इत्यादि को सीमित रखने की सलाह दी जाती है। लेकिन सच्चा इलाज है, अन्दर से सचेतन बनना, दूसरों से बातचीत करते या उनसे सम्पर्क रखते समय किसी भी अवाञ्छनीय आक्रमण या प्रभाव को जानना और उससे एकदम परे हट जाना, अपने चारों ओर सुरक्षा का घेरा बनाये रखना और उसी चीज़ को घेरे के उस पार जाने देना जिसे व्यक्ति जाने देना चाहे—बाक़ी किसी भी चीज़ को अन्दर प्रवेश न

करने देना। साथ ही व्यक्ति को अपनी क्षमता को भी आँक सकना चाहिये कि वह सुरक्षित रूप से क्या दे सकता है और क्या नहीं दे सकता। जब उसके अन्दर यह चेतना आ जाये और वह उसका अभ्यस्त हो जाये तो यह स्वस्थ विनिमय प्रायः अपने-आप होने लगता है।

रही बात श्रीमाँ की शक्ति की, तो जब व्यक्ति उसे ग्रहण करे तो वह तब तक एकदम शान्त बना रहे जब तक कि वह उसे आत्मसात् नहीं कर लेता; उसके बाद सब ठीक चलता है, तब वह शक्ति बाहरी क्रियाओं या दूसरों के साथ मिलने-जुलने के बावजूद विलुप्त नहीं होती।

दूसरों की सहायता करने में भय यह रहता है कि व्यक्ति उनकी परेशानियाँ अपने ऊपर ले लेने का खतरा मोल लेता है। अगर वह स्वयं को अलग-थलग रख कर सहायता करे तब यह आशंका नहीं रहती। लेकिन सहायता करने में प्रवृत्ति यह रहती है कि जिसकी वह सहायता कर रहा है उसे आंशिक रूप में या पूरी तरह से अपने विशालतर स्व में छाँव दे दे। माँ को साधकों के साथ यही करना पड़ता था और यही कारण था कि कभी-कभी उनको भी पीड़ा झेलनी पड़ती थी—क्योंकि जब कोई व्यक्ति अपने में या कार्य में पूरी तरह से तल्लीन हो तब क्रियाओं के बहाव से अछूता रहना हमेशा सम्भव नहीं होता। एक और कठिनाई यह आती है कि व्यक्ति जिन लोगों की सहायता करता है उन्हें यह आदत पड़ जाती है कि सहायक के ऊपर छोड़ देने की बजाय कि वह कितनी सहायता दे सकता है और उसे कितनी देनी चाहिये, सहायता लेने वाला तुम्हारी शक्तियों को खींचने लगता है। इसके साथ-साथ कई दूसरी छोटी-मोटी सम्भावनाएँ भी सहायक के मार्ग में आड़े आती हैं।

२९ जनवरी १९३५

मैंने 'द' (सात साल का बच्चा) को पकड़ा और उससे एक कहानी सुनाने को कहा। उसे यह विचार बेहद पसन्द आया, कथावाचक की भूमिका अपना कर वह मुझे फ्रेंच में रामायण की कथा सुनाने लगा। लगता है कि इस विचार ने उसके मर्म को छू लिया, और अब वह मुझे लगातार सात दिनों तक कहानी सुनाना चाहता है। उसने मुझसे समय देने को कहा और मैंने उसे ८.३० का समय दे दिया। शायद दूसरों की सहायता करने, उनके लिए उपयोगी बनने या अपना ज्ञान दूसरों में बाँटने की प्रवृत्ति हर एक के अन्दर जन्मजात होती है।

बहरहाल, यह उसके लिए अच्छी मानसिक कसरत होगी। मेरे खयाल से यह सहज प्रवृत्ति, सभी में—बच्चे भी उसमें आ जाते हैं—होती ही है। केवल कुछ में प्राण बहुत भीरु होता है या फिर इसे सन्तुष्ट करने में बेहद संकोची होता है।

एक दृष्टि से लगता है कि अधिक गभीर एकाग्रता पाने के लिए सभी चीज़ों से निवृत्त हो जाने पर कुछ सम्पर्क और प्रभाव अपने-आप ही पूरी तरह से झड़ जायेंगे,

और तब व्यक्ति साधना में अधिक लीन होकर अनुभूतियों की शृंखला पा सकता है। उसके बाद, उसमें से निकल कर, जब वह अपने काम में दोबारा लगेगा तब वह उसे भिन्न आधार और भिन्न दृष्टि से, अधिक भरसे और विश्वास के साथ पूरा कर पायेगा। और अगर उसकी अनुभूतियाँ सचमुच आध्यात्मिक प्रकृति की हुईं तब तो सम्भवतः उनसे रूपान्तर का कार्य भी संसिद्ध हो सके।

मुझे आशंका है कि क्या पूरी तरह से निवृत्ति बहुत लाभप्रद होगी? सिवाय ऐसे लोगों के लिए जिनकी मननशील प्रकृति होती है और साथ-साथ जिनकी स्नायुएँ बहुत मज़बूत और स्वस्थ तथा जिनका मन पूरी तरह सन्तुलित होता है—बहरहाल, लोगों के साथ विनिमय कम करने और कुछ इने-गिनों के साथ ही मेल-मिलाप रखने से अच्छा प्रभाव पड़ता है, तब तुम अपने अन्दर अधिक गहराई में प्रवेश कर सकते हो।

३० जनवरी १९३५

‘ज’ ने मुझसे पूछा कि जब मैं भौतिक चेतना में रहता हूँ तो ठीक-ठीक क्या अनुभव करता हूँ? मैं खुद इस चीज़ को अच्छी तरह नहीं समझ पाता, इसलिए मैं कुछ अस्पष्ट-सा उत्तर दे पाया, मैंने कहा कि मुझे अपनी इच्छा-शक्ति बहुत कमज़ोर जान पड़ती है और तमस्, अवसाद इत्यादि के दौरें प्रायः आते रहते हैं। लेकिन ये भौतिक चेतना में रहने के चिह्न तो नहीं हो सकते? क्या भौतिक चेतना में निवास करने के विशेष लक्षण होते हैं?

बाहरी लक्षणों में तो यही कहा जा सकता है कि तब व्यक्ति एक ऐसी निष्क्रियता की अवस्था में चला जाता है कि बस वही करता है जो भौतिक स्तर की शक्तियाँ उससे करवायें या वे जैसा चाहें वैसा बन जाता है। जब व्यक्ति मन में रहता है तब एक सक्रिय मानसिक समझ और मानसिक इच्छा होती है जो उसकी क्रिया, अनुभव, जीवन तथा बाक़ी सभी चीज़ों को संयमित रखने और उन्हें आकार देने का प्रयास करती है। जब व्यक्ति प्राण में रहता है, वह ऊर्जा, उत्साह, आवेग और शक्ति से भरा होता है, भले वह चीज़ अच्छी हो या बुरी, लेकिन वह होती है बहुत जीवन्त। भौतिक तमस् के आ जाने पर ये चीज़ें या तो ग़ायब हो जाती हैं या कमज़ोर, इसी कारण शरीर पर कार्य करने वाली शक्तियाँ भी सक्रिय नहीं होतीं, न व्यक्ति उनसे अभिभूत ही होता है। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति इस तमस् से हमेशा घिरा ही रहता है, क्योंकि आख़िर उसके अन्दर भी मन और प्राण हैं, फिर भी तमस् की अवस्था उसमें प्रमुख होती है। इसमें से निकलने के दो तरीक़े हैं—एक है अपने ‘स्व’ से ऊपर उठ कर, वहाँ से, भौतिक को एक यन्त्र के रूप में देखना, अपने-आपके रूप में नहीं, दूसरा है, ऊपर से भागवत ‘शक्ति’ को उतार कर, भौतिक को उस ‘शक्ति’ का यन्त्र बनाना।

आज सब कुछ शुष्क है—नीरव और जलती हुई शुष्कता। शायद आग्नि भी शुष्क है, या फिर सभी कुछ सूख गया है। शायद प्राणिक-भौतिक कीचड़ और दलदल की नमी चाहता है; इसी कारण वह शुष्कता को नापसन्द करता है। ज़रा सी गम्भीरता, थोड़ी-सी अन्तर्मुखता और प्राण उसे शुष्कता मान बैठता है, कह उठता है, “कितना बड़ा रेगिस्तान!” जब कि वह शुष्कता के एक छोटे से हिस्से को पार कर रहा होता है। मुझे पता नहीं कि अगर इन प्राण महाशय को मन और अतिमन के बीच के चीन के गोबी या अरब-रेगिस्तानों को पार करना पड़े तब इनकी हालत क्या होगी, कैसा अनुभव करेंगे ये!

हाँ, सामान्यतया शुष्कता तब आती है जब प्राण—यहाँ निश्चित रूप से प्राणिक-भौतिक—किसी गति या अवस्था को नापसन्द करे या जब उसकी कामनाओं को अस्वीकार कर दिया जाये तब वह असहयोग देना शुरू कर देता है। लेकिन कभी-कभी यह ऐसी अवस्था होती है जिसे व्यक्ति को पार करना ही होता है, उदाहरण के लिए, उदासीन या शुष्क अचञ्चलता—और कभी-कभी यह तब आती है जब सामान्य क्रियाओं को निकाल बाहर फेंक दिया जाये, लेकिन उनका स्थान भरने के लिए कोई सकारात्मक चीज़ अभी तक आयी न हो। (उदाहरण के लिए शान्ति, हर्ष, उच्चतर ज्ञान या शक्ति और क्रिया)।

३१ जनवरी १९३५

कल आपने लिखा था कि जब व्यक्ति भौतिक चेतना में रहता है “वह बस वही करता है जो भौतिक स्तर की शक्तियाँ उससे करवायें या वे जैसा चाहें वैसा बन जाता है।” भौतिक स्तर की कौन-कौन सी शक्तियाँ हैं?

भौतिक मन, प्राणिक-भौतिक तथा सांसारिक चेतना की शक्तियाँ। निस्सन्देह, जैसा कि मैंने कहा, इस कथन को एकदम कठोर रूप में भी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि व्यक्ति में सच्चा मन और प्राण भी होता है, लेकिन इस मामले में भौतिक चेतना की शक्तियों का बोलबाला है और वे ही उसकी सामान्य अवस्था के बारे में निर्णय कर रही हैं और उनका झुकाव ‘अप्रकाश’ और ‘अप्रवृत्ति’ की ओर है।

‘ज’ ने मुझसे शिकागो से आये एक डॉ. बेकर के आगमन के बारे में बतलाया जो यहाँ कुण्डलिनी पर शोध करने आये हैं। उसे इस बात से वितृष्णा होती है कि मनुष्य के कान जानवरों के कान की तरह हिल सकते हैं और इसका केन्द्र रीढ़ की हड्डी के मूल में होता है। मुझे सन्देह है कि क्या अन्तरंगी या सहानुभूतिमूलक नसों का कान की पेशियों के साथ कोई सम्बन्ध है? शायद योग के किसी पत्राचारी

पाठ्यक्रम ने उसे इतनी बारीकी से इतना कुछ सिखा दिया!

ऐसे लोग हैं जो एकदम से किसी भी तरह का योग किये बिना या ऊपर से कुण्डलिनी के स्रोतों को उतारे बिना कान हिला सकते हैं। मेरे खयाल से यह बस एक ऐसी क्रिया है जिसे मनुष्य इसलिए गँवा बैठा क्योंकि उसने इसका उपयोग करना बन्द कर दिया, क्योंकि पशुओं की तरह उसे हर आवाज़ पर चौकन्ना होकर कान उठाने की आवश्यकता नहीं कि कहीं किसी ख़तरे की आशंका तो नहीं है। मेरे विचार से अगर इसका कोई उपयोग है तो वह इस क्षमता को पुनः प्राप्त कर सकता है।

लेकिन शिकागो के डॉ. बेकर पॉण्डिचेरी में क्या 'बेक' कर (पका) रहे हैं? मुझे मालूम न था कि यह शहर कुण्डलिनी की क्रिया का महान् केन्द्र है और न यह कि इसके लिए शिकागो से भारत आना मामूली बात है।

१ फ़रवरी १९३५

'प' के घेरे से 'ज' के निकलने के बाद 'क' 'ज' से न बोलता है न पहले की तरह उससे घुलता-मिलता ही है। 'ज' का कहना है कि 'क' 'प' के प्रभाव-तले है और वह प्राण को अधिकार करने की 'प' की प्रवृत्ति से कभी बच नहीं सकता। जैसा कि आपने मुझे लिखा था कि 'क' 'प' के प्रभाव के नीचे बहुत नहीं है, मैंने बहस की कि 'प' के साथ 'क' का सम्बन्ध सतही है और वह अपनी सौन्दर्यवादी सत्ता में अधिक जीता है। लेकिन अगर 'क' की पसन्दें, नापसन्दें और सम्बन्ध 'प' की पसन्दों इत्यादि से निश्चित होते हैं तो हम आसानी से यह नहीं कह सकते कि वह उसके प्रभाव के अधीन नहीं है।

सम्भव है कि वह लोगों के बारे में 'प' के विचारों से आसानी से प्रभावित हो जाये या उसके ऊपर 'प' का प्रभाव बढ़ गया हो। जब मैंने वह लिखा था तब श्रीमाँ की लिखी उसकी चिट्ठियों से ऐसा जान पड़ता था कि उसकी साधना किसी भी प्रभाव के अधीन नहीं है। लेकिन यह बात कुछ समय पहले की है।

जब 'ज' यह कहता है कि "हर एक अपना प्राण देकर व्यक्ति को ऊपर तक भर देता है तो उसके कहने का क्या मतलब होता है।" उसने बतलाया कि २३ जनवरी को उसने यह स्पष्ट रूप से देखा जब वह प्रणाम के लिए मुझे ज़बरदस्ती खींच कर ले गया था। क्या इस संसार में प्राण के लेन-देन के सिवाय और कुछ नहीं है? सरल भाषा में लोग कहेंगे, "लोग तुमसे सहानुभूति रखते और तुमसे स्नेह करते हैं।" लेकिन इसका कारण यह है कि "मैं प्रेम करता हूँ और लोग मुझसे

प्रेम करते हैं।”

उसकी भाषा अतिशयोक्ति से भरी है, क्योंकि व्यक्ति अपना प्राण दे नहीं सकता। वह कहना चाहता है कि एक प्राणिक विनिमय होता है, चाहे वह भावुक हो (मैं प्रेम करता हूँ, लोग मुझसे प्रेम करते हैं) या यह प्राणिक शक्तियों का लेन-देन हो सकता है (जो अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी)। निश्चित रूप से न केवल प्राणिक बल्कि मानसिक विनिमय भी होता है और साथ ही सीधे चैत्य सम्पर्क का होना भी सम्भव है।

रेगिस्तान की गरमी बढ़ती जा रही है (बहरहाल यह सुखद गरमी है) और दोपहर के बाद तो उर्नीदेपन के साथ शरीर में हरारत-सी होने लगी। मुझे आश्चर्य होता है कि २३ जनवरी की घटना घटी क्यों? उसके बिना भी मैं विरक्ति विकसित करने के पथ पर था। या शायद वह ज़रूरी थी?

नहीं, वह अपरिहार्य नहीं थी; लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है, क्योंकि जब प्रतिरोध तगड़ा होता है तब 'प्रकृति' ऐसे फट पड़ती है मानों वह किसी बड़े संकट में हो और इससे वह चीज़ ख़तम हो जाती या टूट जाती है जो प्रतिरोध कर रही थी, उसके बाद चीज़ें ज़्यादा अच्छी हो जाती हैं। आराम पाने का बहुत ख़तरनाक तरीका!

२ फ़रवरी १९३५

'ज' ने मुझे शरतचन्द्र के एक उपन्यास का अंग्रेजी में 'द' के द्वारा अनुवाद करने के बारे में बतलाया, और यह भी कि आधे से ज़्यादा का आपने संशोधन किया है। तो इसका मतलब यह हुआ: 'द' आपसे शरतचन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद करा रहा है बजाय इसके कि वह 'आर्य' का अनुवाद करे। कैसी-कैसी अग्नि-परीक्षाओं से गुज़रना पड़ता है आपको! शायद जिस व्यक्ति ने लन्दन की पत्रिका में यह लिखा था कि आपने ५०० किताबें लिखी हैं उसकी बात ग़लत एकदम नहीं थी। आज तक आपने हर साधक की जितनी चिट्ठी-पत्रियों का जबाब दिया है उनसे ३ या चार किताबें तो बन जायेंगी, इसके अतिरिक्त कितनी ही कविताएँ और कितने ही अनुवाद किये हैं आपने, सब मिला कर ५०० से कम न होंगी।

'द' के द्वारा 'आर्य' का अनुवाद करने की बात सोच कर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरे लिए ५०० किताबें लिखना इससे कहीं ज़्यादा आसान होगा। शायद मैंने इतना किया भी है—यहाँ-वहाँ, कहाँ-कहाँ मैंने क्या-क्या नहीं लिखा है। अगर उन सब चीज़ों को खड़ा कर दिया जाये...। लेकिन उनमें से कई चीज़ें दिन का प्रकाश नहीं देख पायेंगी—कम-से-कम सार्वजनिक प्रकाश में

नहीं आयेंगी, फिर भी, शायद मैं किताबों के उत्पादन का 'रेकॉर्ड' स्थापित करने से बच निकलूँ।

पिछले दस दिनों से 'ज' और मैं रात के साढ़े नौ के करीब सैर के लिए जा रहे हैं और हमारी वापसी ग्यारह के करीब होती है। क्या यह किसी भी हिसाब से हानिकर है? आज उसने एक अजीब-सी उलझन के बारे में शिकायत की, जिसे उसने इस तरह रखा: वह ऊपर प्रकाश को देखता है और उसका दबाव भी अनुभव करता है, लेकिन फ़िलहाल उसका प्राण उस प्रकाश को स्वीकार करने से इन्कार कर रहा है, विशेष रूप से कामुक-आवेश, जो अपनी सामान्य क्रिया चाहता है। उसका कहना है कि यह सब वह कागज़ पर स्पष्ट रूप से नहीं लिख सकता।

सैर के लिए जाने में कोई बुराई नहीं है। 'ज' का कहना एकदम स्पष्ट है। प्राण को बदलने के लिए वह 'उच्चतर प्रकाश' के दबाव के साथ-साथ निम्नतर के प्रतिरोध का अपने ऊपर अनुभव कर रहा है और निम्नतर तो हमेशा यही करता है, क्योंकि वह आध्यात्मिक जीवन की माँग के विरोध में सबसे पहले अपने प्रबलतम अभ्यस्त आवेशों को थोपना चाहता है। ये ऐसे प्रतिरोध हैं जिनका डट कर सामना करके इनसे पार निकलना ही होता है ताकि नयी प्रगति के लिए पथ बाधाविहीन बन जाये।

३ फ़रवरी १९३५

न टूटने वाली दीवार: सामान्यतया मैं दोपहर बारह से १.२५ तक, जब तक कि पहली घण्टी नहीं बजती, ज़ीने पर बैठता हूँ। आज 'व' के साक्षात्कार का दिन था और जब मैं उसके पास जाकर बैठा, उसने अपना सिर मेरी तरफ़ मोड़ लिया। मुझे मालूम नहीं कि क्या उसने यह सोचा कि मैं आज जान-बूझकर वहाँ आकर बैठा, लेकिन शायद वह बातचीत के 'मूड' में थी। लेकिन मैंने उसको साफ़ नज़रअन्दाज़ किया, और उससे बचने के पहले दबाव के शान्त हो जाने के बाद मैं शान्ति की उसी सामान्य अनुभूति में चला गया जो मुझे वहाँ बैठने पर मिलती है। अगर मैं ज़रा भी ढीला पड़ जाता तो सारी बाहरी क्रिया उठ आती और दुष्चक्र चल पड़ता। तो, अपनी तरफ़ से मैं एकदम दृढ़ बना रहा।

दृढ़ बने रह कर तुमने बहुत अच्छा किया। अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति लगा कर ही इन चीज़ों को दूर रखा जा सकता है। वरना ये धारा की तरह अन्दर आकर बहती रहती हैं और फिर इनसे छुटकारा पाने के लिए ज़मीन-आसमान एक करना होता है। बेहतर है कि इनके लिए दरवाज़ा बन्द रखा जाये।

... मेरी अवस्था वैसी है जैसी मैंने बहुत पहले अनुभव की थी। बहिर्मुख होने में अब मुझे कोई रस नहीं। मन बस कुछ सीमित चीजों को करने के अलावा और किसी भी कार्य को करने से इन्कार कर रहा है। 'ज' को इसमें अचरज हो कि मैं पहले की तरह बातूनी नहीं रहा। लेकिन करूँ क्या, जब कि मुझे न कोई बात कहनी है न सोचनी?

निश्चित रूप से जब मन का झुकाव बातें करने की ओर न हो तो अपने-आप पर ज़बरदस्ती करने की कोई ज़रूरत नहीं है। जब व्यक्ति अधिक अन्तर्मुख अवस्था में होता है तब उस आन्तरिक भाव से जो फूटे बस वही आसानी से बोल सकता है—बाक़ी सब तकलीफ़देह बन जाता है या एकदम से व्यक्ति बोलने से इन्कार कर देता है।

५ फ़रवरी १९३५

... 'ज' सोचता है कि कान बहुत ही कोमल अंग है और मेरे नाज़ुक कान के मनोवैज्ञानिक कारण का फ़ौरन पता लगाना चाहिये। उसे भी कुछ महीनों तक कान की तकलीफ़ रही है और वह बहुत ही तेज़ दवाइयाँ या तीव्र "क्रिया" देने के बाद ही ठीक हुई। शरीर के रोगों पर 'क्रिया' के इस सिद्धान्त पर मुझे विश्वास नहीं। करने-लायक चीज़ बस यही है कि शरीर को अपने-आप काम करने दिया जाये, भले बीमारी के कारण मनोवैज्ञानिक हों, शारीरिक हों या रोगात्मक। वह शरीर की "देखभाल" में विश्वास रखता है। लेकिन मेरे ख़याल से जो शरीर की बहुत अधिक देखभाल करते हैं और जो एकदम न के बराबर करते हैं, दोनों तरह के लोगों के आँकड़े लिये जायें तो मुझे विश्वास है कि जो लोग "जैसा स्वाभाविक रूप से चलता है, चलने दिया जाये" का मनोभाव अपना लेते हैं, ऐसों का जीवन अधिक लम्बा होता है और उनमें बीमारियाँ भी कम घर करती हैं।

यह व्यक्ति और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। 'ज' जिस "क्रिया" की बात कर रहा है वह अपनायी जा सकती है—लेकिन उसमें बहुधा विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है; अगर 'क्रिया' पर्याप्त हो तो सब ठीक रहता है, वरना समय लगता है और परेशानी उठानी पड़ती है। तुम जो कह रहे हो वह भी सच है। अपने शरीर के बारे में सचेतन न होना, हमेशा उसके बारे में ही न सोचते रहना, किसी बीमारी से बस यह कह देना "बकवास" और अपने रोज़मर्रा के कामों में लगे रहना—यह बहुधा बहुत असरदार होता है। जब आश्रम का आरम्भ हुआ था, यहाँ न कोई चिकित्सक था, न कोई दवाख़ाना और न ही दवाइयाँ। लोग बहुत कम बीमार पड़ते थे और अगर कोई पड़ भी जाता तो जल्दी ही, आसानी से चंगा भी हो जाता। अगर कभी किसी को दस्त लग जाते तो वह बहुत सारा दही-चावल खा लेता और ठीक हो

जाता। अगर बुखार होता तो एक-दो दिन खाट पकड़ लेता और फिर उठ खड़ा होता। तब कोई गम्भीर बीमारी नहीं थी, चलती चली जाने वाली कोई बीमारी नहीं थी। आज चिकित्सकों, दवाखानों और दवाइयों से भरी आलमारियों के रहते बीमारियाँ जंगल में शेरों की तरह उछल-कूद मचाती हैं। लेकिन उन दिनों लोगों के मन में श्रद्धा होती थी, यहाँ तक कि हम कह सकते हैं कि उनके शरीर में श्रद्धा होती थी। “बीमारी भला मेरा क्या बिगाड़ सकती है” और यही मनोभाव अपना परिणाम जड़ देता था।

यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

—श्रीअरविन्द